दस धर्म

संवर के कारणों में गुप्ति और समिति के उपरान्त अब दस धर्मों की चर्चा करते हैं ह्न

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६।।

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तम-आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तम संयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तम-आकिंचन्य और उत्तमब्रह्मचर्य ह्न ये दस धर्म हैं।

यद्यपि उक्त दश धर्म चारित्रगुण की निर्मल पर्यायें हैं; तथापि प्रत्येक के साथ लगा हुआ 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता को सूचित करता है।

तात्पर्य यह है कि **ये चारित्रगुण की निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को ही प्रकट होती हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नहीं।**

अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों में पाये जानेवाले मन्दकषायरूप या शुभ, शुभतर और शुभतम लेश्यारूप क्षमादि भाव मात्र क्षमादि हैं, उत्तमक्षमादि नहीं। **ध्यान रहे, यहाँ क्षमादि की नहीं, उत्तमक्षमादिरूप दस धर्मों की चर्चा अपेक्षित है।**

यद्यपि उत्तमक्षमादि दस धर्म चौथे गुणस्थान से ही आरंभ हो जाते हैं; तथापि यहाँ ये उत्तमक्षमादि दस धर्म मुनिधर्म के प्रकरण में आये हैं; अत: अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों के अभाव में होनेवाले उत्कृष्टतम उत्तमक्षमादि दस धर्म समझना चाहिए।

मुनिराज के योग्य उत्तमक्षमादि दस धर्मों की पूर्णता तो मिथ्यात्व और सम्पूर्ण कषायों के उपशान्त या क्षय होने पर ही होती है।

अत: इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों की परिपूर्णता तो अरहंत और सिद्ध भगवान में ही हैं।

जिन मुनिराजों के संदर्भ में यहाँ इन दस धर्मों की चर्चा चल रही है; उनमें तो मात्र संज्वलन कषायें व तत्संबंधित नोकषायें ही कभी तीव्र और कभी मन्दरूप में प्रज्वलित रहती हैं; शेष कषायों का तो एक प्रकार से अभाव ही है।

आरंभ के चार धर्म तो चार कषायों के अभावरूप ही हैं। क्रोध के अभाव का नाम **क्षमा,** मान के अभाव का नाम **मार्दव,** माया के अभाव का नाम **आर्जव** और लोभ के अभाव का नाम **शौचधर्म** है।

शेष धर्म भी मिथ्यात्व और कषायों के अभावरूप (वीतरागभाव रूप) ही हैं। मुनि-अवस्था में होनेवाले उत्तमसंयम, उत्तमतप आदि धर्म भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक ही होते हैं। **सर्वोत्तम-आकिंचन्य धर्म तो चौबीस परिग्रहों के अभावरूप होने से मिथ्यात्व और पच्चीस कषायों के अभावरूप ही होता है।**

इसीप्रकार उत्तमसत्य, उत्तमत्याग और उत्तमब्रह्मचर्य की स्थिति है।

कषायों का स्वरूप पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तमक्षमादि दस धर्मों का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो लेखक की अन्य कृति **धर्म के दशलक्षण** का अध्ययन करना चाहिए।

दशधर्मों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१-२. उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव ह्न क्रोध गुस्से को कहते हैं।

क्रोध का एक खतरनाक रूप है वैर। यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आता है; उतना वैर में नहीं; तथापि **क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि वैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है।** झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं।

मान घमण्ड को कहते हैं। मान के भी अनेक रूप होते हैं। कुछ रूप तो ऐसे होते हैं, जिन्हें बहुत से लोग मान मानते ही नहीं। **दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है, जिसे लोग मान नहीं मानना चाहते।**

अभिमान और दीनता दोनों में अकड़ है; मार्दवधर्म की कोमलता, सहजता दोनों में ही नहीं है। मानी पीछे को झुकता है, दीन आगे को;

सीधे दोनों ही नहीं रहते। मानी ऐसे चलता है जैसे वह चौड़ा हो और बाजार सकड़ा एवं दीन ऐसे चलता है, जैसे वह भारी बोझ से दबा जा रहा हो।

सम्मान के नाम से भी मान लिया-दिया जाता है।

क्रोध और मान कषाय या उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव धर्म की परस्पर तुलना करके देखें तो कषायों में मान का दूसरा नम्बर है, क्रोध का पहिला। दश धर्मों में भी उत्तमक्षमा के बाद ही उत्तममार्दव आता है।

यद्यपि क्रोध और मान दोनों द्वेषरूप होते हैं, तथापि इनकी प्रकृति में भेद है। जब कोई हमें गाली देता है तो क्रोध आता है, पर जब प्रशंसा करता है तो मान हो जाता है। दुनिया में तो निन्दा और प्रशंसा सुनने को मिलती ही रहती है। अज्ञानी दोनों ही स्थितियों में कषाय करता है।

निन्दा शत्रु करते हैं और प्रशंसा मित्र। अत: क्रोध के निमित्त बनते हैं शत्रु और मान के निमित्त बनते हैं मित्र।

प्रतिकूलता में क्रोध और अनुकूलता में मान आता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। यही कारण है कि असफल व्यक्ति क्रोधी होता है और सफल मानी।

वीतरागी सन्त इन सब बातों से बहुत ऊपर उठ चुके होते हैं; इसलिए उनमें इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई नहीं देतीं, दिखाई नहीं देना चाहिए। उनके परिणाम तो एकदम उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव भावरूप सदा रहते हैं।

३. उत्तम-आर्जव ह्न तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप सरलता का नाम उत्तम-आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। उत्तम-आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित वीतरागी सरलता।

तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप परिणमित मुनिराजों के ऐसा

भाव कभी नहीं होता कि उनके मन में कुछ और वचन में कुछ और तथा काय (जीवन) में कुछ और।

उनकी परिणति तो कुछ इसप्रकार होती है ह्न

"दिन-रात आत्मा का चिंतन, मृदु संभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन।।[१]"

४. उत्तमशौच ह्न शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। अत: सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाली तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागी पवित्रता ही वस्तुत: उत्तमशौचधर्म है।

आत्मा की पवित्रता, वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-मांस-हड्डी का उससे कोई संबंध नहीं।

आत्मा को अपवित्र तो मोह-राग-द्वेष ही बनाते हैं; हड्डी, खून और मांस नहीं; मल-मूत्र भी नहीं।

यद्यपि आत्मा को सभी कषायें अपवित्र करती हैं; तथापि मुख्य रूप से लोभ कषाय को शौच धर्म का विरोधी भाव माना जाता है। इस जगत में ऐसा कौनसा अधम कार्य है, जो लोभी न करता हो। यही कारण है कि **लोभ को पाप का बाप बखाना गया है।**

नारकियों में क्रोध, मनुष्यों में मान, तिर्यंचों में माया और देवों में लोभ की ही प्रधानता होती है।

५. उत्तमसत्य ह्न स्थूल झूठ नहीं बोलना, **सत्याणुव्रत** है। सूक्ष्म भी झूठ नहीं बोलना, सदा सत्य ही बोलना, **सत्यमहाव्रत** है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर, हित-मित एवं प्रियवचन बोलना, **भाषासमिति** है और बोलना ही नहीं **वचनगुप्ति** है।

उत्तम सत्यधर्म इन सबसे पृथक् होता है; क्योंकि उसे इसी शास्त्र में अणुव्रत, महाव्रत, भाषासमिति और वचनगुप्ति से अलग बताया है।

---

१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

यद्यपि सामान्यजन सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत; भाषासमिति और वचनगुप्ति को सत्यधर्म मान लेते हैं; तथापि सत्यधर्म इनसे अलग है।

ज्ञानानन्दस्वभावी, त्रैकालिक, ध्रुव, आत्मतत्त्व ही परम सत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।

६. उत्तमसंयम ह्न संयमन को संयम कहते हैं। संयमन अर्थात् उपयोग को परपदार्थ से समेट कर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना अर्थात् उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वात्मलीनता ही **निश्चयसंयम** है और पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना **व्यवहारसंयम** है।[१]

संयम के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है।

संयम दो प्रकार का होता है ह्न

१. प्राणी संयम और २. इन्द्रिय संयम।

छह काय के जीवों के घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणी संयम और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रियसंयम कहते हैं।

७. उत्तमतप ह्न समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा **स्वस्वरूप में प्रतपन करना ह्न विजयन करना, तप** है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में - अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना, **तप** है।[२]

तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। **सम्यग्दर्शन के बिना किया गया समस्त तप निरर्थक है।**

१. धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १४४
२. धवला पुस्तक १२, खण्ड ४, भाग २, सूत्र १७७, पृष्ठ ८१

कहा भी है ह्न

''सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।[१]

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप भी करे तो भी वह बोधिलाभ प्राप्त नहीं कर सकता।''

बारह तपों की चर्चा आगे आचार्यदेव स्वयं सूत्रों द्वारा विस्तार से करनेवाले हैं। अत: उनके संबंध में यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

८. उत्तमत्याग ह्न निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति, **त्याग** है।[२]

यह त्याग धर्म भी दो प्रकार का है। **आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों का त्याग करना, निश्चय त्याग धर्म है** और चार प्रकार का दान, **व्यवहार से त्याग धर्म** है।

त्याग और दान का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्म के दशलक्षण में लिखा है ह्न

''दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और स्व-उपकार का गौण; किन्तु त्याग में स्वोपकार ही सब-कुछ है।

दूसरों के उपकार के लिए मोह-राग-द्वेष नहीं त्यागे जाते हैं। यह बात अलग है कि अपने त्याग से प्रेरणा पाकर या अन्य किसी प्रकार से पर का भी उपकार हो जावे।

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का किया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, लोभ छोड़ो। **यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो।**

बहुत से लोग तो त्याग और दान को पर्यायवाची ही समझने लगे हैं; किन्तु उनका यह मानना एकदम गलत है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची

१. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़, गाथा ५
२. आचार्य जयसेन : प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा नं. २३९

P 52

तो हैं ही नहीं, अपितु कुछ अंशों में इनका भाव परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध पाया जाता है।

दान चार प्रकार का कहा गया है ह्न १. आहारदान, २. औषधिदान, ३. ज्ञानदान और ४. अभयदान।

जब जरा उक्त चारों शब्दों में 'दान' के स्थान पर 'त्याग' शब्द का प्रयोग करके देखें तो सारी स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

क्या आहारदान और आहारत्याग एक ही चीज है ? इसीप्रकार क्या औषधिदान और औषधित्याग को एक कहा जा सकता है ?

आहारदान दीजिए और स्वयं भी खूब खाइये, कोई रोक-टोक नहीं; पर आहार का त्याग किया तो फिर खाना-पीना नहीं चलेगा।

दान एक पराधीन क्रिया है, जबकि त्याग पूर्णत: स्वाधीन। जो क्रिया दूसरों के बिना सम्पन्न न हो सके, वह धर्म नहीं हो सकती। धर्म पर के संयोग का नाम नहीं, अपितु वियोग का है।

कम से कम त्यागधर्म में तो पर के संयोग की अपेक्षा संभव नहीं है; त्याग शब्द ही वियोगवाची है। यद्यपि इसमें शुद्धपरिणति सम्मिलित है, परन्तु पर का संयोग बिल्कुल नहीं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका त्याग ही होता है, दान नहीं।

कुछ ऐसी हैं जिनका दान ही होता है, त्याग नहीं।

कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी।

जैसे ह्न राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ा जा सकता है, उनका दान नहीं दिया जा सकता।

ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते।

तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है।

दान कमाई पर प्रतिबंध नहीं लगाता, आप चाहे जितना कमाओ; पर त्याग में भले ही हम कुछ न दें, कुछ न छोड़ें; पर वह कमाई को सीमित करता है, उस पर प्रतिबंध लगाता है।

दान में यह देखा जाता है कि कितना दिया, यह नहीं देखा जाता कि उसने अपने पास कितना रखा है; जबकि त्याग में यह नहीं देखा जाता कि कितना दिया है या छोड़ा है, बल्कि यह देखा जाता है कि उसने अपने पास कितना रखा या रखने का निश्चय किया है, बाकी सबका त्याग ही है।''

त्याग एक ऐसा धर्म है, जिसे प्राप्त कर यह आत्मा अकिंचन अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म में लीन होने लगता है, हो जाता है और सारभूत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

९-१०. उत्तम-आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ह्न आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को ही निज मानना, जानना उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है और उससे भिन्न परपदार्थों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले चिद्विकारों को अपना नहीं मानना, नहीं जानना और उनमें लीन नहीं होना ही **आकिंचन्य** है।

यदि स्वलीनता **ब्रह्मचर्य** है तो पर में एकत्वबुद्धि और लीनता का अभाव **आकिंचन्य** है। अत: जिसे अस्ति से **ब्रह्मचर्य धर्म** कहा जाता है, उसे ही नास्ति से **आकिंचन्य धर्म** कहा गया है।

इसप्रकार स्व-अस्ति ब्रह्मचर्य है और पर की नास्ति आकिंचन्य।

जिसप्रकार क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान; उसीप्रकार आकिंचन्य का विरोधी परिग्रह है अर्थात् **आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्यधर्म कहा जाता है।**

अत: आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी हो सकता है।

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं ह्न

१. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा (ग्लानि), १२. स्त्रीवेद, १३. पुरुषवेद और १४. नपुंसकवेद।

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के होते हैं ह्न

१. क्षेत्र (खेत, प्लाट), २. वास्तु (निर्मित भवन), ३. धन (चाँदी, सोना, जवाहरात, मुद्रा), ४. धान्य (अनाज), ५. द्विपद (मनुष्य, पक्षी), ६. चतुष्पद (पशु), ७. यान (सवारी), ८. शय्यासन, ९. कुप्य, १०. भांड (बर्तन)।[१]

परद्रव्यों से रहित, शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर; उसी में जम जाएँ, रम जाएँ और अनन्तकाल तक तद्रूप परिणमित रहकर अनन्त सुखी हों।।६।।

---

१. मूलाचार, प्रथम भाग, अधिकार ५, श्लोक २११;
आचारसार, वीरनंदिकृत, अधिकार ५, श्लोक ६१

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अंतर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं।

वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनंद पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है।

वह ज्ञानानन्द की दशा ऐसी होती है कि बाहर की अनन्त प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ उसे भग्न नहीं कर सकतीं। उन्हें उनकी खबर ही नहीं पड़ती। वे तो अपने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि लोक की कोई भी घटना उनके आनन्द सागर में भँवर पैदा नहीं कर सकती। उनका वह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है।

यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है, सिद्धों के आनन्द का अनंतवाँ भाग ही है; तथापि है उसी जाति का।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१६